मू० २।-)

ईशावास्योपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगुरवे नमः

भगवन् !

लीजिये ! यह उपनिषद्भाष्यका अनुवाद आपकी ही बाह्य और आन्तरिक प्रेरणाका फल है; अतः इसे आपहीके परम पवित्र करकमलोंमें सादर समर्पित करता हूँ ।

आपका ही

एक चरणरजानुचर

नम्र निवेदन

वेदके शीर्षस्थानीय भागका नाम वेदान्त है। यह वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या ही सर्वत्र समत्वका दर्शन कराती है, ब्रह्मविद्यासे ही अज्ञानकी ग्रन्थियाँ कटती हैं, ब्रह्मविद्यासे ही कर्म-चाञ्चल्य सुसंयत और चित्त अन्तर्मुखी होता है। ब्रह्मविद्यासे ही मिथ्या अनुभूतिका विनाश और परम सत्यकी उपलब्धि होती है। ब्रह्म-विद्यासे ही एकात्मरसप्रत्ययसार अवाङ्मनसगोचर स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप चेतनानन्दघन रसैकघन ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन वेदके जिस अत्युच्च शिरोभागमें है, उसीका नाम उपनिषद् है। इन्हीं उपनिषदोंके मन्त्रोंका समन्वय और इनकी मीमांसा भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रमें की है और इन्हीं उपनिषद्रूपी गौओंसे गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने सुधी भोक्ताओंके लिये गीतामृतरूपी दुग्धका दोहन किया था। इसीलिये उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं, और भारतके प्रायः सभी आचार्योंने इसी प्रस्थानत्रयीके प्रकाशसे सत्यका अन्वेषण किया है। और प्रायः सभीने इनपर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं। अपने-अपने स्थानमें सभी आचार्योंके भाष्य उपादेय हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन करनेवाले भाष्योंमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य सर्वोपरि माना जाता है। उपनिषदोंपर तो दूसरे आचार्योंके भाष्य हैं भी थोड़े ही। भगवान्की कृपासे आज कुछ उपनिषदोंके उसी शाङ्करभाष्यका भाषानुवाद प्रकाश करनेका सौभाग्य गीताप्रेसको प्राप्त हुआ है। आशा है ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु अधिकारी पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

प्रथम तो यह विषय ही इतना कठिन है, कि जो ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके मुखसे श्रद्धापूर्वक सुनने और मनन करनेपर ही शुद्धान्तःकरण पुरुषके समझमें आता है। फिर शाङ्करभाष्य भी कठिन है। अतएव इसके अनुवादमें जहाँ-जहाँ त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें विद्वान् पुरुष कृपा करके बतला देनेकी कृपा करेंगे तो अनुवादक और प्रकाशक कृतज्ञतापूर्वक अगले संस्करणमें यथासाध्य उनका संशोधन करनेकी चेष्टा करेंगे। अनुवादक महोदयने उपनिषदोंके शाङ्करभाष्यके अनुवादकी जगह अपना नाम प्रकाश करनेकी शील और संकोचवश आज्ञा नहीं दी, इसीलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है।

वास्तवमें ब्रह्मविद्या इस प्रकार प्रकाशित करनेकी वस्तु भी नहीं है। इसीलिये ऋषियोंने इसमें दोनों ओरसे अधिकारकी आवश्यकता बतलायी है। परन्तु समयके प्रभावसे प्रकाशन आवश्यक हो गया। बंगला और मराठी आदि भाषाओंमें कई अनुवाद हैं। परन्तु हिन्दीमें सरल अनुवाद कम मूल्यमें शायद ही मिलता है। इसीलिये गीताप्रेसने इसके प्रकाशनका यह प्रयत्न किया है। विद्वज्जन इसके लिये क्षमा करेंगे।

प्रकाशक

प्रस्तावना

यह बात संसारके प्रायः सभी विचारकोंको मान्य है कि मनुष्य-को आत्यन्तिक शान्ति बाह्य भोगोंसे प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिये तो उसे किसी अनन्त और निर्बाध-सुखस्वरूप सत्ताकी ही शरण लेनी पड़ेगी। उस अनन्त सुखसमुद्रकी उपलब्धि ही संसारके समस्त दार्शनिकोंका ध्रुव लक्ष्य रहा है। उसका भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनुभव करनेके कारण ही विभिन्न मतवादोंकी सृष्टि हुई है। संसारके उस एकमात्र मूलतत्त्वकी शोध अनादि कालसे होती आयी है। इस विषयमें सभी देशी और विदेशी विद्वान् सहमत हैं कि इसका निर्णय करनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं। वेद अनादि हैं। वे कब रचे गये और कौन उनका रचयिता था—इसका आजतक कोई सन्तोषजनक निर्णय नहीं हो सका।

विषयकी दृष्टिसे वेदोंके तीन भाग हैं, जो तीन काण्ड कहलाते हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। विश्वके मूलतत्त्व-का विचार ज्ञानकाण्डमें किया गया है; कर्म और उपासना उस तत्त्वको उपलब्ध करनेकी योग्यता प्रदान करते हैं। इसलिये वे साधनस्वरूप हैं और ज्ञान सिद्धान्त है। वेदके ज्ञानकाण्डका ही नाम उपनिषद् है। इन्हें वेदान्त या आम्नायमस्तक कहकर भी पुकारा जाता है। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्मविद्याके आदिस्रोत उपनिषद् ही हैं।

उपनिषदोंका महत्त्व वैदिकमतावलम्बियोंको ही मान्य हो—ऐसी बात नहीं है। न जाने कितने विधर्मी और विदेशी महानुभाव भी इनकी गम्भीरता, मधुरता और तात्त्विकतापर मुग्ध हो चुके हैं। मंसूर, सर्मद, फ़ैज़ी, बुल्लाशाह और दाराशिकोह आदि महानुभावोंने इस्लामधर्मावलम्बी होकर भी औपनिषद सिद्धान्तको ही अपने जीवनका सर्वस्व बनाया था। मंसूर और सर्मदने तो शिर देकर भी इस सिद्धान्तको छोड़ना पसन्द नहीं किया। पश्चिमीय

विद्वानोंमें भी मैक्समूलर, शोपेनहर और गोल्डस्टकर आदि ऐसे अनेकों महानुभाव हो गये हैं जिन्होंने उपनिषदोंके महत्त्वको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। मैक्समूलर साहब (Prof. Max Muller) कहते हैं—

'The Upanishads are the......sources of......the Vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme.'

अर्थात् उपनिषद् वेदान्तदर्शनके आदिस्रोत हैं और ये ऐसे निबन्ध हैं जिनमें मुझे मानवी भावना अपने उच्चतम शिखरपर पहुँच गयी मालूम होती है।

शोपेनहर (Schopenhauer) का कथन है—

'In the world there is no study......so beneficial and so elevating as that of the Upanishads......(they) are a product of the highest wisdom......it is destined sooner or later to become the faith of the people.'

अर्थात् सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यही जनताका धर्म होगा।

डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) कहते हैं—

'The Vedant is the sublimest machinery set in to motion by oriental thought.'

अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है, जिसे पूर्वीय विचार-धाराने प्रवृत्त किया है।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदोंका महत्त्व अन्य मतावलम्बियों एवं विदेशियोंको भी कम मान्य नहीं है। वास्तवमें ब्रह्मविद्याकी ऐसी ही महिमा है। जिसने इस अमृतका पान किया है वह निहाल हो गया; उसे न कुछ कर्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य।

* यहाँ जो पश्चिमीय विद्वानोंके मत उद्धृत किये हैं वे 'कल्याण' वर्ष ७ की आठवीं संख्याके 'ब्रह्मविद्या-रहस्य' नामक लेखसे लिये हैं।

ब्रह्माकार वृत्तिका कितना महत्त्व है इसका वर्णन करते हुए वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकार कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

अर्थात् 'जिसका मन उस अपार सच्चिदानन्दसमुद्र परब्रह्ममें लीन हो गया है उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतकृत्य हो जाती है और उसके कारण पृथिवी भी पुण्यवती हो जाती है।' ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें सारा संसार सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है, असद् जड और दुःख उसे प्रतीत ही नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका भी भेद नहीं रहता, वह तो एक निश्चल, निर्बाध और निष्कल चिदानन्दघन सत्तामात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो कुछ कार्य होते हैं वह दूसरोंकी ही दृष्टिमें होते हैं, उसकी दृष्टिमें तो न कोई कार्य है और न उसका करनेवाला ही। सुवर्णके आभूषणादि भेद बहिर्मुख पुरुषोंकी दृष्टिमें होते हैं, सुवर्णके तात्त्विक स्वरूपको देखनेवाला उन्हें कभी नहीं देखता, बाह्यदर्शी लोग कहते हैं कि जलमें तरङ्गें उठती हैं, किन्तु भला जलने उन्हें कब देखा है? मृत्तिकासे बननेवाले घट-शरावादि व्यवहारी लोगों-की दृष्टिमें ही बनते हैं तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें तो वह आगे-पीछे और बीचमें भी केवल मृन्मात्र ही है। अस्तु।

उपनिषदें साक्षात् कामधेनु हैं। ब्रह्मसूत्रोंकी रचना भी इन्हींके वाक्यों और शब्दोंकी संगति लगानेके लिये हुई है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी गोपालनन्दनद्वारा दुहा हुआ इन्हींका दूध है। भारतवर्षमें जितने आस्तिक सम्प्रदाय हैं उन सबके आधार ये ही तीन ग्रन्थरत्न हैं। ये प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके आचार्योंने इनकी विवेचनात्मक व्याख्या लिखकर अपने मत स्थापित किये हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शिवाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंकी आधारशिला ये ही ग्रन्थरत्न हैं। अपने-अपने विचारानुसार आचार्योंने उनमें अपने ही सिद्धान्तकी झाँकी की है। अद्वैतवादके प्रधान आचार्य भगवान् शङ्कराचार्य हैं। उनके भाष्यकी गम्भीरता, विद्वत्ता, स्फुटता और प्रामाणिकता सभीने स्वीकार की है। उनकी प्रसन्नगम्भीर लेखनी-

का वास्तविक रसास्वाद तो वे ही कर सकते हैं जो सब प्रकार साधनसम्पन्न, अद्वैतनिष्ठ तथा संस्कृत वाङ्मयके प्रौढ विद्वान् हैं। तथापि जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है उनमेंसे बहुत-से महानुभाव, जो उनके अबाध्य सिद्धान्तपर मुग्ध होकर उनके चरणोंपर निछावर हो चुके हैं, उनकी वाणीका भावमात्र जाननेके लिये निरन्तर उत्सुक रहते हैं। उनके साथ स्वयं भी उस भावका अवगाहन करनेके लिये ही मैंने भगवान्‌के उपनिषद्भाष्यका भावार्थ लिखनेका दुःसाहस किया है। यद्यपि मैं किसी प्रकार इस महान् कार्यको हाथमें लेनेकी योग्यता नहीं रखता तो भी जिसकी इच्छासे सम्पूर्ण प्राणी अहर्निश भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगे रहते हैं उस सर्वान्तर्यामी जगन्नाटयसूत्रधरने ही मुझे भी इसमें जोड़ दिया। मेरी इस चपलतासे यदि कुछ महानुभावोंका मनोरञ्जन हो सका तो मैं इस प्रयासको सफल समझूँगा।

इस समय प्रायः एक सौ बारह उपनिषदें प्रसिद्ध हैं; परन्तु भगवान् शङ्कराचार्य तथा अन्य आचार्योंने भी अधिकतर आरम्भकी दश-बारह उपनिषदोंपर ही भाष्य लिखे हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अन्य उपनिषदें अप्रामाणिक हैं, क्योंकि उनमेंसे बहुत-सी उपनिषदोंके वाक्य स्वयं भगवान्‌ने भी अपने भाष्योंमें उद्धृत किये हैं। इससे उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता स्पष्टतया सिद्ध होती है।

उपनिषदोंमें सबसे पहली ईशावास्योपनिषद् है। यह उपनिषद् शुक्लयजुःसंहिताका—जिसे वाजसनेयीसंहिता भी कहते हैं—चालीसवाँ अध्याय है। इससे पहले उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसका प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यम्' इत्यादि होनेके कारण इस उपनिषद्‌का नाम भी 'ईशावास्य' हो गया है। आकारमें बहुत छोटी होनेपर भी इसका महत्त्व एवं प्रामाण्य सर्वसम्मत है। भगवान् हमें इसका तात्पर्य समझनेकी बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सच्चे सुखकी उपलब्धि कर सकें।

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

श्रीश्रीशंकराचार्य

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ईशावास्योपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

ईशिता सर्वभूतानां सर्वभूतमयश्च यः।
ईशावास्येन सम्बोध्यमीश्वरं तं नमाम्यहम् ॥

शान्ति-पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है। तथा [प्रलयकालमें] पूर्ण-[कार्यब्रह्म] का पूर्णत्व लेकर (अपनेमें लीन करके) पूर्ण [परब्रह्म] ही बच रहता है। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

सम्बन्ध-भाष्य

ईशादिमन्त्राणां विनियोगः

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः। तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

'ईशा वास्यम्' आदि मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग नहीं है, क्योंकि वे आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले हैं जो कि कर्मका शेष नहीं है। आत्माका यथार्थ स्वरूप शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि है जो आगे कहा जानेवाला है। इसका कर्मसे विरोध है; अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियोग न होना ठीक ही है।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्। सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात्। गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात्। तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय

आत्माका ऐसे लक्षणोंवाला यथार्थ स्वरूप उत्पाद्य[1], विकार्य[2], आप्य[3] और संस्कार्य[4] अथवा कर्ता-भोक्तारूप नहीं है, जिससे कि वह कर्मका शेष हो सके। सम्पूर्ण उपनिषदोंकी परिसमाप्ति आत्माके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेमें ही होती है तथा गीता और मोक्षधर्मोंका भी इसीमें तात्पर्य है। अतः आत्माके सामान्य लोगोंकी बुद्धिसे सिद्ध होनेवाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, तथा अशुद्धत्व और पापमयत्वको

१–उत्पन्न किया जानेयोग्य, जैसे पुरोडाश आदि। २–विकारयोग्य, जैसे सोम आदि। ३–बलवान् करने अथवा प्राप्त करनेयोग्य, जैसे मन्त्रादि। ४–संस्कारयोग्य जैसे व्रीहि आदि। कर्मके शेषभूत पदार्थोंमें इन धर्मोंका रहना आवश्यक है। आत्मामें ऐसा कोई धर्म नहीं है। इसलिये वह कर्मशेष नहीं हो सकता।

लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

लेकर ही कर्मोंका विधान किया गया है ।

कर्मणि कस्य अधिकारः

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनादृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

कर्माधिकारके ज्ञाताओंका भी यही कथन है कि जो पुरुष ब्रह्मतेज आदि दृष्ट और स्वर्ग आदि अदृष्ट कर्मफलोंका इच्छुक है और 'मैं द्विजाति हूँ तथा कर्मके अनधिकार-सूचक कानेपन, कुबड़ेपन आदि धर्मोंसे युक्त नहीं हूँ' ऐसा अपनेको मानता है वही कर्मका अधिकारी है ।

अनुबन्धचतुष्टयम्

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति । इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्सङ्क्षेपतो व्याख्यास्यामः ।

अतः ये मन्त्र आत्माके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करके आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञानको निवृत्त करते हुए संसारके शोक-मोहादि धर्मोंके विच्छेदके साधनस्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञानको ही उत्पन्न करते है । इस प्रकार जिनके [मुमुक्षु-रूप] अधिकारी, [आत्मैक्यरूप] विषय, [प्रतिपाद्य-प्रतिपादकरूप] सम्बन्ध और [अज्ञाननिवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्तिरूप] प्रयोजनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन मन्त्रोंकी अब हम संक्षेपसे व्याख्या करेंगे ।

सर्वत्र भगवद्दृष्टिका उपदेश

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

जगत्में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है वह सब ईश्वरके द्वारा आच्छादनीय है [अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिये]। उसके त्याग-भावसे तू अपना पालन कर; किसीके धनकी इच्छा न कर ॥ १ ॥

ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य। स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम्।

जो ईशन (शासन) करे उसे ईट् कहते हैं उसका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है। सबका ईशन करनेवाला परमेश्वर परमात्मा है। वही सब जीवोंका आत्मा होकर अन्तर्यामिरूपसे सबका ईशन करता है। उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईशसे सब वास्य—आच्छादन करनेयोग्य है।

किम्? इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।

क्या [आच्छादन करनेयोग्य है]? यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथिवीमें जगत् (स्थावर-जंगम प्राणिवर्ग) है वह सब अपने आत्मा ईश्वरसे—अन्तर्यामिरूपसे यह सब कुछ मैं ही हूँ—ऐसा जानकर अपने परमार्थसत्यस्वरूप परमात्मासे यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करनेयोग्य है।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेन आच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। तद्वदेव हि स्वात्मनि अध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्याम्; जगत्यामिति उपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्।

जिस प्रकार चन्दन और अगरु आदिकी, जल आदिके सम्बन्धसे गीलेपन आदिके कारण उत्पन्न हुई औपाधिक दुर्गन्धि उन (चन्दनादि) के स्वरूपको घिसनेसे उनके पारमार्थिक गन्धसे आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार अपने आत्मामें आरोपित स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि लक्षणोंवाला द्वैतरूप जगत् जगतीमें यानी पृथिवीमें—'जगत्याम्' यह शब्द [स्थावर-जंगम सभीका] उपलक्षण करानेवाला होनेसे—इस परमार्थ सत्यस्वरूप आत्माकी भावनासे नामरूप और कर्ममय सारा ही विकारजात परित्यक्त हो जाता है।

आत्मनिष्ठस्य त्याग एव अधिकारः

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः। न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः—भुञ्जीथाः पालयेथाः।

इस प्रकार जो, ईश्वर ही चराचर जगत्का आत्मा है—ऐसी भावनासे युक्त है, उसका पुत्रादि तीनों एषणाओंके त्यागमें ही अधिकार है—कर्ममें नहीं। उसके त्यक्त अर्थात् त्यागसे [आत्माका पालन कर]। त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने सम्बन्धका अभाव हो जानेके कारण अपना पालन नहीं करता; अतः त्यागसे—यही इस श्रुतिका अर्थ है—भोग यानी पालन कर।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम्। कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः। स्विदित्यनर्थको निपातः।

इस प्रकार एषणाओंसे रहित होकर तू गर्द्ध अर्थात् धन-विषयक आकांक्षा न कर। किसीके धनकी अर्थात् अपने या पराये किसीके भी धनकी इच्छा न कर। यहाँ 'स्वित्' यह अर्थरहित निपात है।

अथवा मा गृधः। कस्मात्? कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः॥१॥

अथवा आकांक्षा न कर, क्योंकि धन भला किसका है?—धन तो किसीका भी नहीं है जो उसकी इच्छा की जाय—ऐसा आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है। यह सब आत्मा ही है—इस प्रकार ईश्वरभावनासे यह सभी परित्यक्त हो जाता है। अतः यह सब आत्मासे उत्पन्न हुआ तथा सब कुछ आत्मस्वरूप ही होनेके कारण मिथ्यापदार्थविषयक आकांक्षा न कर—ऐसा इसका तात्पर्य है॥१॥

मनुष्यत्वाभिमानीके लिये कर्मविधि

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयात्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—

इस प्रकार उपर्युक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है कि आत्मवेत्ताको पुत्रादि एषणात्रयका त्याग करते हुए ज्ञाननिष्ठ रहकर ही आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। अब जो आत्मतत्त्वका ग्रहण करनेमें असमर्थ दूसरा अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह दूसरा मन्त्र उपदेश करता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इस लोकमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । इस प्रकार मनुष्यत्वका अभिमान रखनेवाले तेरे लिये इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे [अशुभ] कर्मका लेप न हो ॥ २ ॥

कुर्वन्नेव इह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषे-ज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसङ्ख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपि-तम् । तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत् कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते ।

इस लोकमें अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही सौतक अर्थात् सौ वर्षों-तक जीनेकी इच्छा करे । पुरुषकी बड़ी-से-बड़ी आयु इतनी ही बतलायी गयी है । अतः उस प्राप्त हुई आयुका अनुवाद करते हुए यह विधान किया है कि यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे तो कर्म करते हुए ही जीना चाहे ।

एवमेवम्प्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभि-मानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रका-रादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः ।

इस तरह, इस प्रकार जीनेकी इच्छा करनेवाले तुझ मनुष्य—मनुष्यत्वमात्रका अभिमान करने-वालेके लिये इस अर्थात् अग्नि-होत्रादि कर्म करते हुए ही [आयु बितानेके] वर्तमान प्रकारसे भिन्न और कोई ऐसा प्रकार नहीं है जिससे अशुभ कर्मका लेप न हो अर्थात् जिससे वह पुरुष कर्मसे

अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ।

लिप्त न हो । अतः अग्निहोत्र आदि शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करे ।

ज्ञानकर्मसमुच्चयखण्डनम्

कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति ।

पूर्व०—यह कैसे जाना गया कि पूर्व मन्त्रसे संन्यासीकी ज्ञाननिष्ठाका तथा द्वितीय मन्त्रसे संन्यासमें असमर्थ पुरुषकी कर्मनिष्ठाका वर्णन किया गया है ?

उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं 'यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्' 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इति च । 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम्; ततो न पुनरियात्' इति संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति ।

सिद्धान्ती—कहते हैं, क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि, जैसा पहले (सम्बन्ध-भाष्यमें) कह चुके हैं, ज्ञान और कर्मका विरोध पर्वतके समान अविचल है । यहाँ भी 'जो जीनेकी इच्छा करे वह कर्म करते हुए ही [जीना चाहे]' तथा 'यह सब ईश्वरसे आच्छादन करनेयोग्य है' 'उस (चराचर जगत्) के त्यागद्वारा आत्माकी रक्षा कर' 'किसीके धनकी इच्छा न कर' इत्यादि वाक्योंसे [कर्मी और संन्यासीकी निष्ठाओंका भेद ही] निरूपण किया है । तथा 'जीवन या मरणका लोभ न करे, वनको चला जाय—यही वेदकी मर्यादा है । और फिर वहाँसे घर न लौटे' इस वाक्यसे भी [ज्ञाननिष्ठके लिये] संन्यासका ही विधान किया है । आगे इन दोनों निष्ठाओंके फलका भेद भी बतलायेंगे ।

इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण । निवृत्तिमार्गेण एषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति । "न्यास एवात्यरेचयत्" इति च तैत्तिरीयके ।
"द्वाविमावथ पन्थानौ
यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो
निवृत्तश्च विभावितः ॥"
(महा० शा० २४१ । ६)
इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागश्चानयोः दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

ये दोनों ही मार्ग सृष्टिके आरम्भसे परम्परागत हैं । इनमें पहले कर्ममार्ग है और पीछे संन्यास । [संन्यासरूप] निवृत्तिमार्गसे तीनों एषणाओंका त्याग किया जाता है । इन दोनोंमें संन्यासमार्ग ही उत्कर्ष प्राप्त करता है । तैत्तिरीय श्रुतिमें भी कहा है कि "संन्यास ही उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ ।" वेदाचार्य भगवान् व्यासने भी बहुत सोच-विचारकर ही अपने पुत्रसे यह निश्चित बात कही है—"जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं—एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्ममार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावना किया हुआ निवृत्तिमार्ग ।" इन दोनोंका विभाग हम आगे दिखलायेंगे ॥२॥
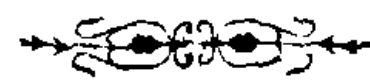
अज्ञानीकी निन्दा

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—

अब अज्ञानीकी निन्दा करनेके लिये यह [तीसरा] मन्त्र आरम्भ किया जाता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं । जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम। नामशब्दोऽनर्थको निपातः।

अद्वय परमात्मभावकी अपेक्षासे देवता आदि भी असुर ही हैं। उनके सम्पत्ति-स्वरूप लोक 'असुर्य' हैं। 'नाम' शब्द अर्थहीन निपात है।

ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः। तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।

जिनमें कर्मफलोंका लोकन—दर्शन यानी भोग होता है वे लोक अर्थात् जन्म (योनियाँ) अन्ध—अदर्शनात्मक तम यानी अज्ञानसे आच्छादित हैं। वे इस शरीरको छोड़कर अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार उन [ब्रह्मासे लेकर] स्थावरपर्यन्त योनियोंमें ही जाते हैं।

आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति। अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात्। विद्यमानस्य आत्मनो यत्कार्यं फलमजराममरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृताविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते॥ ३॥

जो कोई आत्माका घात (नाश) करते हैं वे आत्मघाती हैं। वे लोग कौन हैं? जो अज्ञानी हैं। वे सर्वदा अपने आत्माकी किस प्रकार हिंसा करते हैं? अविद्यारूप दोषके कारण अपने नित्यसिद्ध आत्माका तिरस्कार करनेसे [अज्ञानी जीवोंकी दृष्टिमें] नित्य विद्यमान आत्माका अजरामरत्वादिज्ञानरूप कार्य यानी फल मरे हुएके समान तिरोभूत रहता है, इसलिये प्राकृत अज्ञानीजन आत्मघाती कहे जाते हैं। इस आत्मघातरूप दोषके कारण ही वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं॥३॥

कथं विरुद्धमुच्यते । ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च ।

पूर्व०—यह विरुद्ध बात कैसे कही जाती है कि वह आत्मतत्त्व ध्रुव एवं निश्चल है तथा मनसे भी अधिक वेगवान् है ?

विरोध-परिहारः

नैष दोषः । निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यते अनेजदेकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य सङ्कल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्त्तनाद् इह देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं सङ्कल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह ।

सिद्धान्ती—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक और सोपाधिक रूपसे यह विरुद्ध कथन भी बन सकता है । उस अवस्थामें अपने निरुपाधिक रूपसे तो 'अविचल' और 'एक'—ऐसा कहा जाता है तथा अन्तःकरणकी मनरूप संकल्प-विकल्पात्मिका उपाधिका अनुवर्तन करनेके कारण [मनसे भी अधिक वेगवान् कहा गया है] इस लोकमें देहस्थ मनका ब्रह्मलोक आदि दूर देशोंमें संकल्परूपसे एक क्षणमें ही गमन हो जाता है; अतः मनका अत्यन्त वेगवत्त्व तो लोकमें प्रसिद्ध ही है । किन्तु उस मनके ब्रह्मलोकादिमें बड़ी शीघ्रतासे पहुँचनेपर वहाँ आत्मचैतन्यका अवभास पहलेहीसे पहुँचा हुआ-सा अनुभव किया जाता है । इसीसे 'वह मनसे भी अधिक वेगवान् है' ऐसा श्रुति कहती है ।

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं

जिसका प्रकरण चल रहा है ऐसे इस आत्मतत्त्वको देवगण भी प्राप्त अर्थात् उपलब्ध नहीं कर सके ।

नाप्नुवन्न प्राप्तवन्तः । तेभ्यो मनो जवीयः । मनोव्यापारव्यवहितत्वाद् आभासमात्रमपि आत्मनो नैव देवानां विषयीभवति ।

विषयोंका द्योतन (प्रकाश) करनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही 'देव' हैं । उन इन्द्रियोंसे तो मन ही वेगवान् है; अतः [आत्मा तथा इन्द्रियोंके बीचमें] मनोव्यापारका व्यवधान रहनेके कारण आत्माका तो आभासमात्र भी इन्द्रियोंका विषय नहीं होता ।

यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत् पूर्वमेव गतं व्योमवद्व्यापित्वात् सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीत्यविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह ।

क्योंकि आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह वेगवान् मनसे भी पहले ही गया हुआ है । वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूपसे सम्पूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित तथा अविक्रिय होकर ही उपाधिकृत सम्पूर्ण सांसारिक विकारोंको अनुभव करता है और अविवेकी मूढ पुरुषोंको प्रत्येक शरीरमे अनेक-सा प्रतीत होता है इसीसे श्रुतिने ऐसा कहा है ।

तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छति इव । इवार्थं स्वयमेव दर्शयति तिष्ठदिति; स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः ।

वह दौड़ते अर्थात् तेजीसे चलते हुए, आत्मासे भिन्न अन्य मन, वाणी और इन्द्रिय आदिका अतिक्रमण कर जाता है—मानो उन्हें पार करके चला जाता है । 'इव' का भावार्थ श्रुति 'तिष्ठत्' (ठहरनेवाला) इस पदसे स्वयं ही दिखला रही है। अर्थात् स्वयं अविकारी रहकर ही दूसरोंको पार कर जाता है ।

तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः।

उस नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वके वर्तमान रहते हुए ही, जो मातरि अर्थात् अन्तरिक्षमें सञ्चार—गमन करता है वह मातरिश्वा—वायु, जो समस्त प्राणोंका पोषक और क्रियारूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रिय हैं तथा जिसमें ये सब ओत-प्रोत हैं और जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व निखिल जगत्का विधाता है वह मातरिश्वा अप् अर्थात् प्राणियोंके चेष्टारूप कर्म यानी अग्नि, सूर्य और मेघ आदिके ज्वलन-दहन, प्रकाशन एवं वर्षारम्भादि कर्म विभक्त करता है। ऐसा इसका भावार्थ है।

धारयतीति वा। "भीषास्माद्वातः पवते" (तै० उ० २।८।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकरणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः॥ ४॥

अथवा "इसके भयसे वायु चलता है" इत्यादि [भाववाली] श्रुतियोंके अनुसार 'दधाति' का अर्थ 'धारण करता है' ऐसा जानो। क्योंकि शरीर और इन्द्रिय आदि सभी विकार सबके अधिष्ठानस्वरूप नित्यचैतन्य आत्मतत्त्वके विद्यमान रहते ही होते हैं॥ ४॥

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—

मन्त्रोंको आलस नहीं होता; अतः पहले मन्त्रद्वारा कहे हुए अर्थको ही फिर कहते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता । वह दूर है और समीप भी है । वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है ॥ ५ ॥

तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः। किञ्च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वात् दूर इव। तद् उ अन्तिके इतिच्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३ । ४ । १) इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्य अस्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः। "प्रज्ञानघन एव" (बृ० उ० ४ । ५ । १३) इति च शासनान्निरन्तरं च ॥ ५ ॥

जिसका प्रकरण है वह आत्मतत्त्व एजन करता—चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता; अर्थात् स्वयं अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है। यही नहीं, वह दूर भी है; अज्ञानियोंको सैकड़ों करोड़ वर्षोंमें भी अप्राप्य होनेके कारण दूर-जैसा है। ['तद्वन्तिके' का] तत् उ अन्तिके—ऐसा पदच्छेद करना चाहिये । वही अन्तिक—अत्यन्त समीप भी है अर्थात् केवल दूर ही नहीं, विद्वानोंका आत्मा होनेके कारण समीप भी है । वह इस सबके अन्तर यानी भीतर भी है, जैसा कि "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है । आकाशके समान व्यापक होनेके कारण वह इस नामरूप और क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत्के बाहर तथा सूक्ष्मरूप होनेसे इसके भीतर भी है । और श्रुतिके "प्रज्ञानघन ही है" इस कथनके अनुसार वह निरन्तर (बाहर-भीतरके भेदको त्यागकर सर्वत्र) ही है ॥ ५ ॥

अभेददर्शीकी स्थिति

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

जो [साधक] सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी आत्माको ही देखता है वह इस [सार्वात्म्यदर्शन] के कारण ही किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषाम् अपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकरणसङ्घातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति ।

जो परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें ही देखता है अर्थात् उन्हें आत्मासे पृथक् नहीं देखता, तथा उन सम्पूर्ण भूतोंमें भी आत्माको देखता है अर्थात् उन भूतोंके आत्माको भी अपना ही आत्मा जानता है यानी यह समझता है कि जिस प्रकार मैं इस देहके कार्य (भूत) और करण (इन्द्रिय)-संघातका आत्मा और इसकी समस्त प्रतीतियोंका साक्षी, चेतयिता, केवल और निर्गुण हूँ उसी प्रकार अपने इसी रूपसे अव्यक्तसे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जो सब भूतोंमें अपने निर्विशेष आत्मस्वरूपको ही देखता है वह उस आत्मदर्शनके कारण ही किसीसे जुगुप्सा यानी घृणा नहीं करता ।

प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा हि घृणात्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तम् अर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव। ततो न विजुगुप्सत इति ॥ ६ ॥

यह प्राप्त वस्तुका ही अनुवाद है । सभी प्रकारकी घृणा अपनेसे भिन्न किसी दूषित पदार्थको देखनेवाले पुरुषको ही होती है, जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूपको ही देखनेवाला है उसकी दृष्टिमें घृणाका निमित्तभूत कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं; यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है । इसीलिये वह किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—

इसी बातको दूसरा मन्त्र भी कहता है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

जिस समय ज्ञानी पुरुषके लिये सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्‌को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ? ॥ ७ ॥

यस्मिन्काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद् आत्मैव संवृत्तः परमार्थवस्तु विजानतः तत्र तस्मिन्काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः ।

जिस समय अथवा जिस पूर्वोक्त आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें वे ही सब भूत परमार्थ आत्मस्वरूपके दर्शनसे आत्मा ही हो गये अर्थात् आत्मभावको ही प्राप्त हो गये, उस समय अथवा उस आत्मामें क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?

शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति। न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः।

को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥ ७ ॥

शोक और मोह तो कामना और कर्मके बीजको न जाननेवालेको ही हुआ करते हैं, जो आकाशके समान आत्माका विशुद्ध एकत्व देखनेवाला है उसको नहीं होते।

'क्या मोह और क्या शोक ?' इस प्रकार अविद्याके कार्यस्वरूप शोक और मोहकी आक्षेपरूपसे असम्भवता दिखलाकर कारणसहित संसारका अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित किया गया है ॥ ७ ॥

आत्मनिरूपण

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः।

उपर्युक्त मन्त्रोंसे जिस आत्माका वर्णन किया गया है वह अपने स्वरूपसे कैसे लक्षणोंवाला है इस बातको यह मन्त्र बतलाता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायुसे रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयम्भू (स्वयं ही होनेवाला) है। उसीने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियोंके लिये यथायोग्य रीतिसे अर्थों (कर्त्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ॥ ८ ॥

स यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगाद्गतवानाकाशवद्व्यापी इत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणम् अक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितम् ।

शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुँल्लिङ्गत्वेन परिणेयानि । स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुँल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात् ।

वह पूर्वोक्त आत्मा पर्यगात्, परि—सब ओर अगात्—गया हुआ है अर्थात् आकाशके समान सर्वव्यापक है; शुक्र—शुद्ध—ज्योतिष्मान् यानी दीप्तिवाला है; अकाय—अशरीरी अर्थात् लिंग शरीरसे रहित है; अव्रण यानी अक्षत है; अस्नाविर है, जिसमें स्नायु अर्थात् शिराएँ न हों उसे अस्नाविर कहते है । अव्रण और अस्नाविर—इन दो विशेषणोंसे स्थूल शरीरका प्रतिषेध किया गया है । तथा शुद्ध, निर्मल यानी अविद्यारूप मलसे रहित है—इससे कारण शरीरका प्रतिषेध किया गया है । अपापविद्ध—धर्म-अधर्मरूप पापसे रहित है ।

'शुक्रम्' इत्यादि (नपुंसकलिङ्ग) वचनोंको पुँल्लिङ्गमें परिणत कर लेना चाहिये, क्योंकि 'स पर्यगात्' इस पदसे आरम्भ करके 'कविः मनीषी' आदि शब्दोंद्वारा पुँल्लिङ्गरूपसे ही उपसंहार किया है ।

कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् । "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृ० उ०

कवि—क्रान्तदर्शी* यानी सर्वदृक् है । जैसा कि श्रुति कहती है—"इससे

* क्रान्तका अर्थ अतीत है, अतः क्रान्तदर्शीका अर्थ अतीतद्रष्टा हुआ । यहाँ अतीतकालको तीनों कालोंका उपलक्षण मानकर भाष्यकारने क्रान्तदर्शीका अर्थ सर्वदृक् अर्थात् सर्वद्रष्टा किया है ।

३।८।११) इत्यादिश्रुतेः। मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः। परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति। येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः।

स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद्यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः; शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्य कोई और द्रष्टा नहीं है।" मनीषी–मनका ईशन करनेवाला अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर। परिभू–सबके परि अर्थात् ऊपर है इसलिये परिभू है। स्वयम्भू—स्वयं ही होता है [इसलिये स्वयम्भू है]। अथवा जिनके ऊपर है और जो ऊपर है वह सब स्वयं ही है, इसलिये स्वयम्भू है।

उस नित्यमुक्त ईश्वरने सर्वज्ञ होनेके कारण यथाभूत कर्म, फल और साधनके अनुसार अर्थो—कर्त्तव्य-पदार्थोंका याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथायोग्य रीतिसे उनका विभाग किया। यथा-तथाके भावको याथातथ्य कहते हैं। [उसने] शाश्वत–नित्य समाओं अर्थात् संवत्सर नामक प्रजापतियोंको [उनकी योग्यताके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य बाँट दिये] ॥ ८ ॥

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः "ईशा वास्यमिदं सर्वं ··· मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इति।

यहाँ "ईशा वास्यमिदं सर्वं ···· मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" इस प्रथम मन्त्र-द्वारा सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठाका वर्णन किया है; यही वेदका प्रथम अर्थ है। तथा जो

अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठासम्भवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि ···जिजीविषेत्" इति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः ।

अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १।४।१७) इत्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । "मन एवास्यात्मा वाग्जाया" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिवचनाद् अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् ।

अज्ञानां कर्मनिष्ठा

जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन च आत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता "किं प्रजया

ज्ञानिनां सांख्यनिष्ठा

अज्ञानी और जीवित रहनेकी इच्छावाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होनेपर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि···· जिजीविषेत्" इत्यादि मन्त्रसे कर्मनिष्ठा कही है । यह दूसरा वेदार्थ है ।

उपर्युक्त मन्त्रोंद्वारा दिखलाया हुआ इन निष्ठाओंका विभाग बृहदारण्यकमें भी दिखाया है । "उसने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो" इत्यादि वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि कर्म अज्ञानी और सकाम पुरुषके लिये ही हैं । "मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है" इत्यादि वचनसे भी कर्मनिष्ठका अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चितरूपसे जाना जाता है । तथा उसीका फल सप्तान्न सर्ग * है । उनमें आत्मभावना करनेसे ही आत्माकी [अनात्मरूपसे] स्थिति है ।

आत्म-ज्ञानियोंके लिये तो वहाँ (बृहदारण्यकोपनिषद्में) "जिन हमको यह आत्मलोक ही सम्पादन करना है वे हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे" इत्यादि वाक्यसे जायादि†

* व्रीहि-यवादि—ये मनुष्यके अन्न हैं, हुत-प्रहुत—ये दोनों देवताओंके अन्न हैं, मन, वाणी और प्राण—ये आत्माके अन्न हैं तथा दुग्ध पशुओंका अन्न है । यह सात प्रकारके अन्नकी सृष्टि कर्मका ही फल है ।

† यहाँ 'जाया' (स्त्री) शब्दसे 'पुत्र' उपलक्षित होता है; अतः 'जायादि-एषणा' का तात्पर्य 'पुत्रादि-एषणात्रय' समझना चाहिये ।

करिष्यामो येषान्नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिना अविद्वन्निन्दाद्वारेण आत्मनो याथात्म्यं स पर्यगात् इत्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि—"अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्" (श्वे० उ० ६ । २१) इत्यादि विभज्योक्तम् ।

ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—

तीन एषणाओंके त्यागपूर्वक कर्म-निष्ठाके विरुद्ध आत्म-स्वरूपमें स्थित रहना ही दिखलाया है । जो ज्ञान-निष्ठ संन्यासी हैं उन्हें ही 'असुर्या नाम ते लोकाः' यहाँसे लेकर 'स पर्यगात्' इत्यादितकके मन्त्रोंसे अज्ञानीकी निन्दा करते हुए आत्माके यथार्थ स्वरूपका उपदेश किया है । इस आत्मनिष्ठामें उन्हींका अधिकार है, सकाम पुरुषोंका नहीं । इसी प्रकार श्वेताश्वतर-मन्त्रोपनिषद्में भी "ऋषिसमूहसे भली प्रकार सेवित इस परम पवित्र आत्मज्ञानका उत्तम (संन्यास) आश्रमवालोंको उपदेश किया" इत्यादि रूपसे इसका पृथक् उपदेश किया है ।

जो कर्मनिष्ठ कर्मठ लोग कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहते हैं उनसे यह कहा जाता है—

कर्म और उपासनाका समुच्चय

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः ॥ ९ ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे [अविद्यारूप] घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥९॥

कथं पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वेषाम् इति ।

उच्यते—अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति यदात्मैकत्वविज्ञानम् [उक्तम्] तन्न केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति । इह तु समुच्चिचीषया अविद्वदादिनिन्दा क्रियते । तत्र च यस्य येन समुच्चयः सम्भवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इति पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिह एकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापरैव

पूर्व०—यह कैसे ज्ञात होता है कि [यह विधि कर्मनिष्ठोंके ही लिये है] सबके लिये नहीं है ?

सिद्धान्ती—बतलाते हैं, [सुनो] निष्काम पुरुषके लिये जो 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इस मन्त्रसे साध्य और साधनके भेदका निराकरण करते हुए आत्माके एकत्वका ज्ञान प्रतिपादन किया है, उसे कोई भी विचारवान् किसी भी कर्म या अन्य ज्ञानके साथ मिलाना नहीं चाहेगा । यहाँ तो समुच्चयकी इच्छासे ही अविद्वान् आदिकी निन्दा की है । अतः न्याय और शास्त्रके अनुसार जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है वही यहाँ कहा गया है । सो कर्मके सम्बन्धीरूपसे यहाँ दैव वित्त अर्थात् देवतासम्बन्धी ज्ञानका ही उल्लेख हुआ है—परमात्मज्ञानका नहीं, क्योंकि "विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" ऐसा [इस ज्ञानका आत्मज्ञानसे] पृथक् फल सुना गया है । उन ज्ञान और कर्ममेंसे, यहाँ जो एक-एकके अनुष्ठानकी निन्दा की है वह समुच्चयके अभिप्रायसे है निन्दाके

एकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्; "विद्यया तदारोहन्ति" "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इति। न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्।

तत्र अन्धन्तमः अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति, के ? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः। तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह;

ही लिये नहीं, क्योंकि "उस पदपर विद्या (देवताज्ञान) से आरूढ़ होते हैं" "विद्यासे देवलोककी प्राप्ति होती है" "वहाँ दक्षिणमार्गसे जानेवाले नहीं पहुँचते" "कर्मसे पितृलोक मिलता है" इत्यादि एक-एकका पृथक् फल बतलानेवाली श्रुतियाँ भी मिलती हैं; और शास्त्रविहित कोई भी बात अकर्त्तव्य नहीं हो सकती।

उनमें, वे तो अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। कौन ? जो अविद्या—विद्यासे अन्य अविद्या अर्थात् कर्म यानी केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्याहीकी उपासना करते हैं, अर्थात् तत्पर होकर कर्मका ही अनुष्ठान करते रहते हैं, क्योंकि कर्म विद्या (आत्मज्ञान) के विरोधी हैं [इसलिये उन्हें अविद्या कहा गया है]। तथा उस अन्धकारसे भी कहीं अधिक अन्धकारमें वे प्रवेश करते हैं, कौन ?—जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या यानी देवताज्ञानमें ही रत—अनुरक्त हैं। विद्या और कर्मके अवान्तर फल-भेदको ही इनके समुच्चयका कारण बतलाते हैं;

अन्यथा फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैव स्याद् इत्यर्थः ॥ ९ ॥

नहीं तो एक-दूसरेके समीप हुए फलयुक्त और फलहीन परस्पर अंग और अंगी हो जायँगे [अर्थात् फलयुक्त तो अंगी (मुख्य) हो जायगा तथा फलहीन अंग (गौण, समझा जायगा] यही इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

कर्म और उपासनाके समुच्चयका फल

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

विद्या (देवताज्ञान) से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या (कर्म) से और ही फल बतलाया है । ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१०॥

अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति "विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) "विद्यया तदारोहन्ति" इति श्रुतेः। अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः" (बृ० उ० १। ५।१६) इति श्रुतेः। इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । ये आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥ १० ॥

"विद्यासे देवलोक प्राप्त होता है" "विद्यासे उसपर आरूढ़ होते हैं" ऐसी श्रुतियोंके अनुसार, वेदवेत्ता-लोग कहते हैं कि विद्यासे और ही फल मिलता है। तथा "कर्मसे पितृ-लोक मिलता है" इस श्रुतिके अनुसार, अविद्या यानी कर्मसे और ही फल होता है—ऐसा उनका कथन है । ऐसे हमने धीर अर्थात् बुद्धिमानोंके वचन सुने हैं, जिन आचार्योंने हमसे उस कर्म तथा ज्ञानका विख्यान किया था अर्थात् उनकी व्याख्या की थी । तात्पर्य यह है कि यह उनका परम्परागत आगम है ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥

जो विद्या और अविद्या—इन दोनोंको ही एक साथ जानता है वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते ।

क्योंकि ऐसा है इसलिये विद्या और अविद्या अर्थात् देवताज्ञान और कर्म इन दोनोंको जो एक साथ एक ही पुरुषसे अनुष्ठान किये जानेयोग्य जानता है इस प्रकार समुच्चय करनेवालेको ही एक पुरुषार्थका सम्बन्ध क्रमशः होता है यही अब कहा जाता है ।

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥ ११ ॥

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मसे मृत्यु यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर—पार करके विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवात्मभावको प्राप्त हो जाता है । देवत्वभावको जो प्राप्त होना है वही अमृत कहा जाता है ॥ ११ ॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाका समुच्चय

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते ।

अब व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंका समुच्चय करनेकी इच्छासे प्रत्येककी निन्दा की जाती है ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (कार्यब्रह्म) में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥१२॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या तामसम्भूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है वह जिसके कार्यका धर्म है उसे 'सम्भूति' कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति—प्रकृति—कारण अथवा अव्याकृत नामकी अविद्या है। उस असम्भूति यानी अव्याकृत नामवाली प्रकृति—कारण अर्थात् अज्ञानात्मिका अविद्याकी, जोकि कामना और कर्मकी बीज है, जो लोग उपासना करते हैं वे उसके अनुरूप ही अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। तथा जो सम्भूति यानी हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्ममें रत हैं वे तो उससे भी गहरे—मानो अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासनाके फल

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह ।

अब, उन दोनों उपासनाओंके समुच्चयका कारणरूप जो उन दोनोंके फलोंका भेद है उसका वर्णन किया जाता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

कार्यब्रह्मकी उपासनासे और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्तोपासनासे और ही फल बतलाया है । ऐसा हमने बुद्धिमानोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१३॥

अन्यदेव पृथगेवाहुः फलं सम्भवात्सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः । तथा चान्यदाहुः असम्भवादसम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात् । यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्मकी उपासनासे प्राप्त होनेवाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप और ही फल बतलाया अर्थात् बखान किया है । तथा असम्भूति यानी अव्याकृतसे अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनासे और ही फल बतलाया है; जिसे पहले 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' आदि वाक्यसे कह चुके हैं तथा पौराणिक लोग जिसे प्रकृतिलय कहते हैं—ऐसा हमने धीरों (बुद्धिमानों) का कथन सुना है, जिन्होंने हमसे उनका वर्णन किया था अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओंके फलका व्याख्यान किया था ॥ १३ ॥

यत एवमतः समुच्चयः सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोर्युक्त एवैकपुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—

क्योंकि ऐसा है, इसलिये सम्भूति और असम्भूतिकी उपासनाओंका समुच्चय उचित ही है। इसके सिवा एक पुरुषार्थमूलक होनेसे भी उनका समुच्चय होना ठीक है—यही आगे कहते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

जो असम्भूति और कार्यब्रह्म—इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह कार्यब्रह्मकी उपासनासे मृत्युको पार करके असम्भूतिके द्वारा [प्रकृतिलयरूप] अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा—हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य—असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते।

जो पुरुष असम्भूति और विनाश इन दोनोंकी उपासनाके समुच्चयको जानता है वह—जिसके कार्यका धर्म विनाश है और उस धर्मीसे अभेद होनेके कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है—उस विनाशसे अर्थात् उसकी उपासनासे अधर्म तथा कामना आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके—हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल ही मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके—असम्भूति—अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥ १४ ॥

'सम्भूतिं च विनाशं च' इस पद-समूहमें प्रकृतिलयरूप फल बतलानेवाली श्रुतिके अनुरोधसे अवर्णके लोपपूर्वक निर्देश हुआ समझना चाहिये* ॥ १४ ॥

उपासककी मार्गयाचना

भोगमोक्ष-विवेकः

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम् ।

शास्त्रके बतलाये हुए प्रकृतिलय-पर्यन्त समस्त फल [गौ, भूमि और सुवर्ण आदि] मानुष सम्पत्ति तथा [देवताज्ञानरूप] दैवी सम्पत्तिसे सम्पन्न होनेवाले हैं । यहाँतक संसारकी गति है । इससे आगे पहले 'आत्मैवाभूद्विजानतः' इस (सातवें मन्त्र) में बतलाया हुआ सम्पूर्ण एषणाओंके त्यागरूप संन्यासका फल सर्वात्मभाव ही है । इस प्रकार यहाँ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप दो प्रकारका वेदार्थ प्रकाशित किया है । उनमें विधि-प्रतिषेधरूप सम्पूर्ण प्रवृत्तिलक्षण वेदार्थका प्रकाश करनेमें प्रवर्ग्यपर्यन्त ब्राह्मण-भाग उपयोगी है । तथा निवृत्ति-लक्षण वेदार्थको अभिव्यक्त करनेमें इससे आगे बृहदारण्यकका उपयोग किया जाता है ।

* अर्थात् 'असम्भूति' को ही 'सम्भूति' कहा है—ऐसा जानना चाहिये ।

तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' इति ।

उनमें जो पुरुष गर्भाधानसे लेकर मरणपर्यन्त कर्म करते हुए ही जीवित रहना चाहता है उसे अपरब्रह्मविषयक विद्याके साथ ही [जीवित रहना चाहिये] जैसा कि कहा है— 'विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानता है वह अविद्या (कर्म) से मृत्युको पार करके विद्या (देवताज्ञान) से अमृत प्राप्त कर लेता है।'

देवयानमार्गयाचनम्

तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते । तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष एतदुभयꣳ सत्यं ब्रह्मोपासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इति ।

वह किस मार्गसे अमृतत्व प्राप्त करता है ? सो बतलाते हैं । वह जो सत्य है वही यह आदित्य है, जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिणनेत्रमें है वे दोनों ही सत्य हैं । जो उस ब्रह्मकी उपासना करनेवाला और शास्त्रोक्त कर्म करनेवाला है वह अन्तकाल उपस्थित होनेपर [इस आदित्यमण्डलस्थ] आत्मासे 'हिरण्मयेन पात्रेण०' इस मन्त्रके द्वारा इस प्रकार आत्मप्राप्तिके द्वारकी याचना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्मका मुख ज्योतिर्मय पात्रसे ढका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्माको आत्माकी उपलब्धि करानेके लिये तू उसे उघाड़ दे ॥ १५ ॥

हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत् । तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् । तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यस्य उपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यमथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

जो सोनेका-सा हो उसे 'हिरण्मय' कहते हैं, अर्थात् जो ज्योतिर्मय है उस ढकनेरूप पात्रसे ही आदित्य-मण्डलमें स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्मका मुख–द्वार छिपा हुआ है। हे पूषन्! सत्यकी उपासना करनेके कारण जिसका सत्य ही धर्म है ऐसा मैं सत्यधर्मा हूँ उस मेरे प्रति अथवा यथार्थ धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मेरे प्रति दृष्टि अर्थात् अपने सत्यस्वरूपकी उपलब्धिके लिये तू उसे उघाड़ दे–[उस पात्रको] सामनेसे हटा दे ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करनेवाले! हे यम (संसारका नियमन करनेवाले)! हे सूर्य (प्राण और रसका शोषण करनेवाले)! हे प्रजापतिनन्दन! तू अपनी किरणोंको हटा ले (अपने तेजको समेट ले)। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उसे मैं देखता हूँ। यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूँ ॥ १६ ॥

हे पूषन्! जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः; हे एकर्षे! तथा

हे पूषन्! जगत्का पोषण करनेके कारण सूर्य पूषा है। वह अकेला ही चलता है इसलिये एकर्षि है; हे एकर्षे!

सर्वस्य संयमनाद्यमः; हे यम ! तथा रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः; हे सूर्य ! प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः; हे प्राजापत्य ! व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान्। समूह एकीकुरु उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः।

सबका नियमन करनेके कारण यम है; हे यम ! किरण प्राण और रसोंको स्वीकार करनेके कारण सूर्य है; हे सूर्य ! प्रजापतिका पुत्र होनेसे प्राजापत्य है; हे प्राजापत्य ! अपनी किरणोंको दूर कर। अपने तेज यानी सन्तप्त करनेवाली ज्योतिको पुञ्जीभूत एकत्रित अर्थात् शान्त कर।

यत्ते तव रूपं कल्याणतमम् अत्यन्तशोभनं तत्ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि। किञ्चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि॥१६॥

तेरा जो अत्यन्त कल्याणमय अर्थात् परम सुन्दर स्वरूप है उसे तुझ आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ। तथा यह बात मैं तुझसे सेवकके समान याचना नहीं करता, क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला[1] आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे, अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे समस्त जगत्को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

मरणोन्मुख उपासककी प्रार्थना

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

१—'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू सुवरिति प्रतिष्ठा' (बृ० उ० ५। ५। ३) अर्थात् उसका 'भूः' यह शिर है, 'भुवः' यह भुजाएँ हैं तथा 'सुवः' यह प्रतिष्ठा (चरण) है।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्माको प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुएको स्मरण कर ॥ १७ ॥

अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः। लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम्, मार्गयाचनसामर्थ्यात्। अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात्।

ओमिति यथोपासनम् ॐप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ १७ ॥

अब मुझ मरनेवालेका वायु—प्राण अपने अध्यात्म परिच्छेदको त्यागकर अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप अमृत यानी सूत्रात्माको प्राप्त हो—इस प्रकार इस वाक्यमें 'प्रतिपद्यताम्' यह क्रियापद जोड़ लेना चाहिये। यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान और कर्मके संस्कारोंसे युक्त यह लिंग देह उत्क्रमण करे, क्योंकि [इस श्रुतिसे] मार्गकी याचना की गयी है। तथा अब यह शरीर अग्निमें होम कर दिये जानेपर भस्मशेष हो जाय।

'ॐ' ऐसा कहकर यहाँ उपासनाके अनुसार सत्यस्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूपसे कहा गया है, क्योंकि 'ॐ' उसका प्रतीक है। हे क्रतो!—संकल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' यहाँ ['स्मर' पदकी] पुनरुक्ति आदरके लिये है ॥ १७ ॥

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—

पुनः दूसरे मन्त्रसे मार्गकी याचना करता है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥ १८॥

हे अग्ने! हमें कर्मफलभोगके लिये सन्मार्गसे ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मोंको जाननेवाला है। हमारे पापण्डपूर्ण पापोंको नष्ट कर। हम तेरे लिये अनेकों नमस्कार करते हैं॥ १८॥

हे अग्ने! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय। राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः अस्मान्यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्।

हे अग्ने! मुझे सुपथ अर्थात् सुन्दर मार्गसे ले चल। यहाँ 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिणमार्गकी निवृत्तिके लिये है। मैं आवागमनरूप दक्षिण-मार्गसे ऊब गया हूँ, अतः तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि यथोक्त कर्मफल-विशिष्ट हम लोगोंको हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा ज्ञानोंको जाननेवाले हे देव! तू 'राये'—धनके लिये अर्थात् कर्मफल-भोगके निमित्त पुनः-पुनः आने-जानेसे रहित शुभमार्गसे ले चल।

किञ्च युयोधि वियोजय विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः

तथा तू हमारे कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापोंको वियुक्त यानी विनष्ट कर दे। तब हम विशुद्ध होकर अपना इष्ट प्राप्त कर लेंगे—यह इसका अभिप्राय है। किन्तु इस समय हम तेरी परिचर्या (सेवा) करनेमें समर्थ

परिचर्यां कर्तुम्। भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः।

नहीं हैं। अतः हम तेरे लिये बहुत-सी नमः-उक्ति यानी नमस्कार-वचन विधान करते है अर्थात् नमस्कारसे ही तेरी परिचर्या करते हैं।

ग्रन्थार्थ-विवेचन

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।'(ई० उ०११) 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते' (ई० उ० १४) इति श्रुत्वा केचित्संशयं कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं सङ्क्षेपतो विचारणां करिष्यामः।

'अविद्या (कर्म) से मृत्युको पारकर विद्या (देवता-ज्ञान) से अमृत प्राप्त करता है' 'विनाश (कार्यब्रह्मकी उपासना) से मृत्युको पारकर असम्भूति (अव्यक्तकी उपासना) से अमृत लाभ करता है' ऐसा सुनकर कुछ लोगोंको संशय हो जाता है। अतः उसकी निवृत्तिके लिये हम संक्षेपसे विचार करते हैं।

तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते—

अच्छा तो, यहाँ किस निमित्तको लेकर संशय होता है? इसपर कहते हैं—

विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च।

पूर्व०—यहाँ 'विद्या' शब्दसे मुख्य परमार्थ विद्या तथा 'अमृत' शब्दसे अमृतत्व ही क्यों नहीं लिया जाता?

ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः।

सिद्धान्ती—ऊपर बतलायी हुई परमार्थविद्या और कर्मका परस्पर विरोध होनेके कारण उनका समुच्चय नहीं हो सकता।

सत्यम् । विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात् । यथाविद्यानुष्ठानं विद्योपासनञ्च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि । यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति । एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात् । विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः ।

पूर्व०—ठीक है, परन्तु इनका विरोध या अविरोध तो शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो सकता है; अतः [यहाँ शास्त्र-विधि होनेके कारण] इनका विरोध नहीं जान पड़ता । जिस प्रकार अविद्याका अनुष्ठान और विद्याकी उपासना शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हैं उसी प्रकार उनके विरोध और अविरोध भी हैं । जैसे 'सभी प्राणियोंकी हिंसा न करे' यह बात शास्त्रसे जानी जाती है और फिर 'यज्ञमें पशुकी हिंसा करे' इस शास्त्र-विधिसे ही बाधित भी हो जाती है वैसे ही विद्या और अविद्याके सम्बन्धमें भी हो सकता है । और इस प्रकार विद्या तथा कर्मका समुच्चय हो जायगा ।

न "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या" (क० उ० १।२।४) इति श्रुतेः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि "जिनकी गति भिन्न-भिन्न हैं वे विद्या और कर्म सर्वथा विपरीत हैं ।"

विद्यां चाविद्यां चेति वचनादविरोध इति चेत् ?

पूर्व०—'किन्तु विद्यां चाविद्यां च' इस वाक्यसे इन दोनोंका अविरोध है न ?

नः हेतुस्वरूपफलविरोधात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनके हेतु, स्वरूप और फलोंमें विरोध है ।

विद्याविद्याविरोधाविरोधयो-

पूर्व०—विद्या और अविद्या तथा

विकल्पासम्भवात्समुच्चयविधाना-दविरोध एवेति चेत् ।

विरोध और अविरोध इनमें विकल्प न हो सकनेके कारण तथा* समुच्चय-की विधि होनेसे अविरोध ही मान लिया जाय तो ?

न; सहसम्भवानुपपत्तेः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इन दोनोंका साथ रहना सम्भव नहीं है ।

क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्या-विद्ये इति चेत् ।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि विद्या और अविद्या क्रमसे एक आश्रयमें रहनेवाली हैं, तो ?

न; विद्योत्पत्तौ अविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतो-ऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्प-त्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि विद्या-के उत्पन्न हो जानेपर अविद्याका नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रयमें अविद्याकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । 'अग्नि उष्ण और प्रकाशस्वरूप है' इस ज्ञानके उत्पन्न होनेपर जिस [अग्निरूप] आश्रय-में यह उत्पन्न हुआ है उसीमें अग्नि शीतल और अप्रकाशमय है—ऐसा अज्ञान नहीं हो सकता; अधिक क्या इस विषयमें उस पुरुषको कोई सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो

* क्योंकि विद्या-अविद्या तथा विरोध-अविरोध ये सिद्ध वस्तुएँ हैं । जो बात पुरुषके अधीन होती है अर्थात् जिसे पुरुष कर सकता है उसीमें विकल्प भी हो सकता है। जैसे 'सूर्योदयके अनन्तर हवन करे'—इस विधिमें यह विकल्प हो सकता है कि सूर्योदयसे पहले करे या पीछे; परन्तु 'सूर्य है' इस बातमें सूर्य है या नहीं—ऐसा कोई विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यका होना या न होना किसी पुरुषविशेषके अधीन नहीं है ।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति शोकमोहाद्यसम्भवश्रुतेः। अविद्यासम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिम् अवोचाम।

अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकम् अमृतम्। विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् तस्मादुपासनया समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथास्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते॥ १८॥

सकता। ज्ञानीके लिये शोक-मोहादिका असम्भव बतलानेवाली "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार अविद्याके असम्भव हो जानेपर उसके आश्रयसे होनेवाले कर्म भी नहीं हो सकते—यह बात हम पहले ही कह चुके हैं।

यहाँ जो कहा गया है कि अमृतको प्राप्त होता है सो आपेक्षिक अमृत समझना चाहिये। यदि 'विद्या' शब्दसे परमात्म-विद्या ली जाय तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्रोंसे मार्गादिकी याचना नहीं बन सकती। इसलिये यहाँ उपासनाके साथ ही [कर्मका] समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञानके साथ नहीं। इस प्रकार इन मन्त्रोंका वही अर्थ है जैसा कि हमने व्याख्यान किया है। ऐसा कहकर हम विराम लेते हैं॥ १८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं सम्पूर्णम्।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥
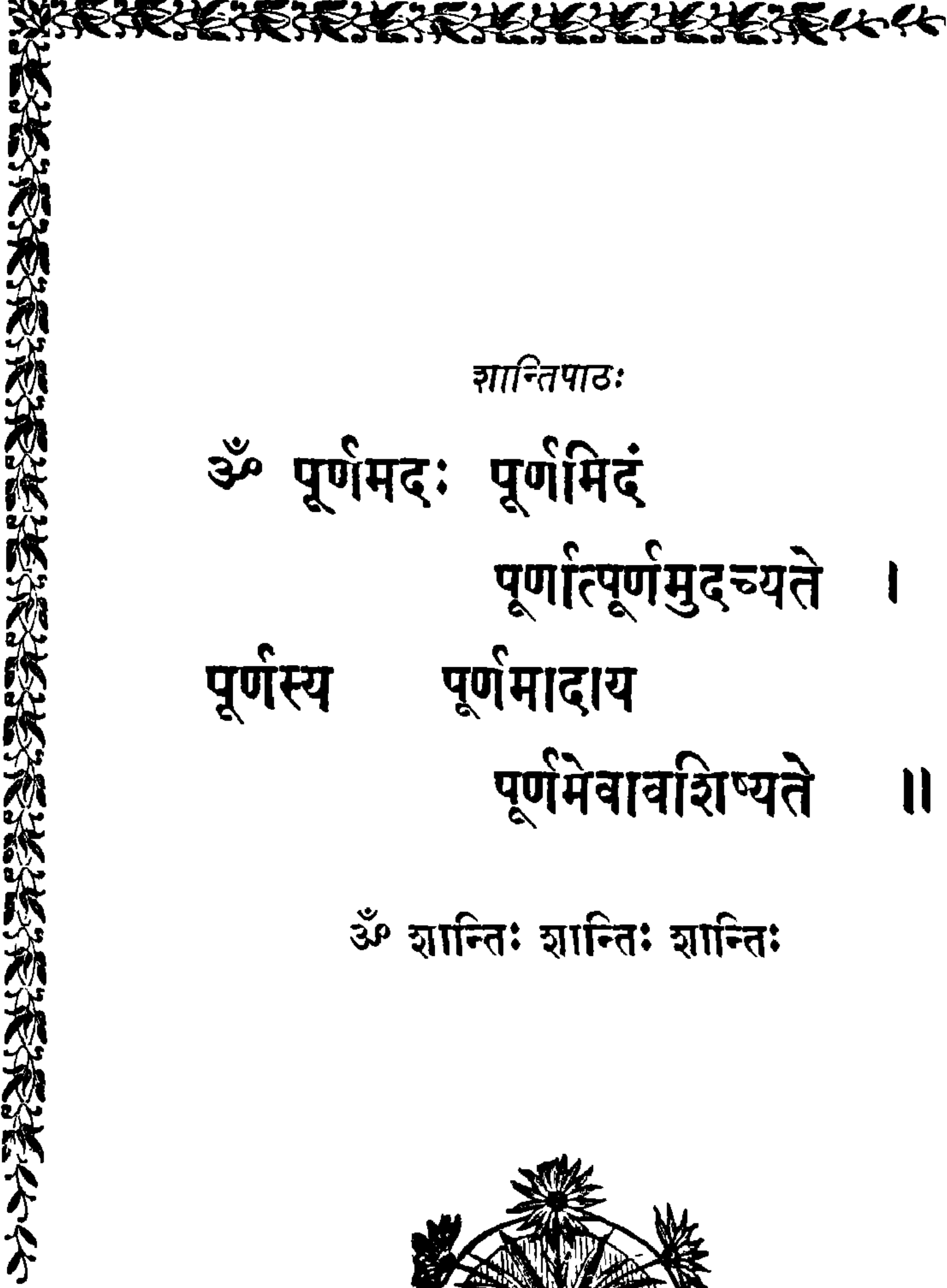
शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका